International Journal of Sanskrit Research 2024; 10(1): 96-99

International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519
IJSR 2024; 10(1): 96-99
© 2024 IJSR
www.anantaajournal.com
Received: 07-11-2023
Accepted: 11-12-2023

प्रभाकर कुमार
शोधार्थी, धर्म और शिक्षा विशेषज्ञ, संस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना, बिहार भारत

Corresponding Author:
प्रभाकर कुमार
शोधार्थी, धर्म और शिक्षा विशेषज्ञ, संस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना, बिहार भारत

आयुर्वेद में आहार विज्ञानः चरक संहिता के विशेष संदर्भ में

प्रभाकर कुमार

सारांश
आहार मानव के तन और मन दोनों को प्रभावित करता है। जैसा होगा अन्न वैसा होगा मन अर्थात हमारे मन की विचार आहार से प्रभावित होती है। मानव को बहुत ही विवेकपूर्वक (सोच–समझकर) आहार ग्रहण करना चाहिए क्योंकि हमारे शरीर की रचना और भावो (प्रवृति) की रचना आहार से होती है।

कूटशब्दः भोजन विज्ञान, अन्नशुद्धि, भावशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, कालशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, आहार ग्रहणविधि, क्रियाशुद्धि और मात्रा निर्धारण

प्रस्तावना
आजकल मानव की जीवनचर्या पश्चिम की संस्कृति से प्रभावित होकर अवैज्ञानिक, असंयमित, अनियमित, असंस्कारिक और अस्त–व्यस्त होकर तन और मन को अस्वस्थ और तनावग्रस्त बनानेवाली हो गई है। इसकी पृष्ठभूमि में भारतीय संस्कृति और धर्मशास्त्रों में वर्णित जीवनचर्या से सम्बन्धित नियमों और निर्देशों के प्रति अज्ञानता और धन की दौड़ में यन्त्रवत् दैनिकचर्या प्रमुख है।
चूँकि मनुष्य के समस्त आचार–व्यवहार, चेष्टा और कर्म शरीर के माध्यम से ही सम्पन्न किए जाते है, अतः मानव शरीर को परमात्मा की अनुपम कृति मानकर उसकी स्वस्थता और सुरक्षा विशेष ख्याल रखना चाहिए। ''आध्यात्मिक दृष्टि से यह शरीर देवमन्दिर है। इसमें अवस्थित जीव (आत्मा) इसी को अपना आश्रय बनाकर अपनी जीवनयात्रा पूर्ण करता है। कर्मयोग, भक्ति और मोक्षसाधना भी इसी शरीर के माध्यम से सम्भव है।''[1]
इसके लिए इस शरीर को स्वस्थ, निरोग और ऊर्जावान् बनाएँ रखना नितान्त आवश्यक है। जिस तरह किसी यन्त्र या वाहन को गति प्रदान करने के लिए ईंधन की आवश्यकता होती है, वैसे ही शरीर को गतिशील बनाएँ रखने के लिए आहार की आवश्यकता होती है। यह आहार स्वाद के साथ शरीर के उदर की पूर्ति के लिए नहीं, अपितु उसके दीर्घायु–जीवन की कामना और आरोग्यता के लिए किया जाता है। ''इसी शरीर में ईश्वर–अंशरुपी जीव भी अवस्थित है, जो वैशवानगर (जठराग्नि) रुप से प्रत्येक प्राणीद्वारा चर्व्य, चसेष्य, लेह्म और पेय– इस प्रकार से ग्रहण किए आहार को नैवेद्य–भाव से ग्रहण करता है।''[2] इस स्थिति में ऋषि–मुनियों, आयुर्वेदाचार्य से और मनीषियों के समक्ष अनेक प्रश्न उपस्थित हो गए; जो सात्त्विक, पवित्र, पौष्टिक और आदर्श आहार से सम्बन्ध रखते थे। जैसे–मानवशरीर के लिए श्रेष्ठ आहार कैसा हो, किन उपकरणों (भोज्य पदार्थों)– का किस मात्रा और अनुपात में संयोग किया जाए तथा किस विधि से संस्कारित किया (पकाया) जाए, जिससे वात, पित्त तथा कफ–ये त्रिदोष उत्पन्न न हो सकें, जठराग्नि संतुलित तथा पाचन में सुगमता हो और इन सबके फलस्वरूप तन, मन, इन्द्रिय और आत्मा प्रसन्नता का अनुभव करे। ये ही स्वस्थ मनुष्य के लक्षण माने गए हैं –

''समदोषः समाग्निच समधातुमलकियः।
प्रसन्नत्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।।''[3]

इन प्रश्नों का हल ढूँढ़ते हुए विद्वानों के विचार में ये प्रश्न भी उपस्थित थे कि किस देश, काल, भौगोलिक स्थिति, जलवायु, वातावरण में वहाँ के व्यक्ति के लिए कौनसा आहार उपयुक्त होगा, किस तरह, किन लोगों, किस परिस्थिति और किसके माध्यम से आहार–निर्माण कराया जाए, ताकि ''व्यक्ति की शरीर रचना, आयु, कर्म के स्वरुप के अनुरुप आवश्यक प्रोटीन, कार्बोज, विटामिन्स, खनिज, लवण, वसा आदि शरीर उपयोगी तत्त्वों की पर्याप्त पूर्ति हो।''[4] उन्हें इस बात को तय करना था कि भोजन कितनी मात्रा और कितनी बार, किस समय पर ग्रहण करना उपयुक्त होगा। भोजन–ग्रहण की विधि

कैसी हो, भोजनोपरान्त कौन सी क्रियाएँ भोजन पचाने में सहायक होगी, उसे भी जानना आवश्यक था आदि–आदि।

विद्वज्जनों ने इन प्रश्नों को ही आहार के विषय मानकर गहन चिन्तन, मनन और परीक्षण कर एक आदर्श संहिता–भोजनविज्ञान मानव के कल्याणार्थ तैयार की, जिसके प्रमुख बिन्दुओं को आयुर्वेदाचार्य चरक ने आठ शीर्षकों में इस तरह समाहित कर प्रस्तुत किया है। जैसे – ''प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि भवन्ति''[5]

1. प्रकृति (Nature and quality of food products) ।
2. करण (संस्कार) Preparation Technique) ।
3- संयोग (Combination) A
4- राशि (मात्रा) (Quantity) A
5. देश (आदत और जलवायु) (Habit and Climate) ।
6. काल (Time factor) ।
7. उपयोगविधि (Rules of Use) ।
8. उपभोक्ता (User) ।

–इन आठ शीर्षकों के अन्तर्गत ''शरीर के लिए आवश्यक गुणों की प्राप्ति हेतु समान गुणवाले पदार्थों का चयन करना प्रकृति है। स्वाभाविक गुणों से युक्त द्रव्यों में विभिन्न निर्माण विधि से अतिरिक्त गुणों का आधान करण या संस्कार है। आहार में अधिक गुणों की प्राप्ति हेतु एक से अधिक समान गुणोंवाले द्रव्यों का सम्मिलन संयोग है। संयोग में द्रव्यों के सम्मिलन का अनुपात–निर्धारण राशि या मात्रा है।''[6] आहारी की रुचि, देश–काल की जलवायु के अनुसार द्रव्यों में अतिरिक्त का आधान लाने हेतु जल, ऊष्मा में आवश्यकतानुसार मात्रा में परिवर्तन, जिससे आहार पच्य हो, इसका ध्यान रखा जाना एवं अन्त में ''इन विधियों–विशेषताओं से आहारी की सन्तुष्टि और पुष्टता प्राप्त हो, इसके लिए आहार ग्रहणविधि तैयार करना उपभोक्ता के अन्तर्गत आता है।''[7]

इस अष्ट–आहार ग्रहणविधि को ध्यान में रखकर यहाँ आहार प्रकृति, अन्नशुद्धि, भावशुद्धि, कालशुद्धि, मात्रानिर्धारण, देशनिर्णय, क्रियाशुद्धि, आहार ग्रहणविधि आदि पर विचार करते हुए भोजनविज्ञान के स्वरुप का दर्शन प्रस्तुत है :–

आहार या भोजनविज्ञान

आहारप्रकृति –प्रत्येक भोज्य पदार्थ में प्रकृति प्रदत्त तीन गुण–सात्त्विक, राजस और तामस गुण पाए जाते हैं। प्रत्येक गुण का शरीर पर तदनुरुप प्रभाव पड़ता है। ''श्रीकृष्णजी के अनुसार सरल, सारवत् और हितग्राही आहार सात्त्विक हैं; इनसे आयु, बल, उत्साह, आरोग्य, सुख और प्रीति की वृद्धि होती है। अधिक कटु, अम्ल, लवण, उष्ण, तीक्ष्ण, रुक्ष और दाहक, आहार राजसिक हैं। बासी, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, जूठा और स्पर्श तथा दृष्टि से अपवित्र (उच्छिष्ट) आहार तामसिक होते हैं''[8] जिनसे तन–मन में जड़ता, अज्ञानता और पशुभाव जाग्रत् होते हैं। इन्हीं तथ्यों के आधार पर विद्वानों ने सात्त्विक आहार को श्रेष्ठ आहार माना है।

अन्नशुद्धि

सात्त्विक आहार का मुख्य घटक है अन्न। अन्न को पवित्र और शुद्ध रखने के लिए आवश्यक है कि उसे अच्छी तरह छान–बीनकर स्वच्छ जल से साफ कर सुखा दिया जाए। पाकशाला के उपयोग में आनेवाले बर्त्तन, कपड़े साफ हों। स्थान हवादार और प्रकाशमय हो। गृहिणी या रसोईया बाहरी एवं आन्तरिक रुप से शुद्ध हो। उसके परिधान धुले एवं स्वच्छ हो।

अन्न मनुष्य के भौतिक शरीर को पोषित करने के साथ–साथ सूक्ष्म शरीर की अवधारणा में भी महत्वपूर्ण योगदान देता है। मनुष्य जैसा अन्न ग्रहण करता है, उसी के अनुसार उसका अन्नमयकोश निर्मित होता है। इसी से मनोमयकोश अर्थात् मानसिक वृत्तियाँ स्थिर होती हैं तथा इसी से ज्ञानमय और विज्ञानमयकोश विकसित होते हैं। इसलिए भारतीय सनातन संस्कृति में अन्नसहित आहारशुद्धि से सत्त्वशुद्धि, सत्त्वशुद्धि से ध्रुवास्मृति, ध्रुवास्मृति से स्मृतिशुद्धि, स्मृतिशुद्धि से समस्त ग्रन्थियों का मोचन होता है।

''आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः
स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।''[9]

अन्न के सात्त्विकादि गुणानुसार मन भी सात्त्विकादि भाव उत्पन्न होता है, चिन्तनशक्ति बढ़ती है। खाया हुआ अन्न आमाशय में पचकर तीन भाग में विभक्त होता है–''स्थूल असार अंश मल बनता है, मध्यम अंश से मांस और सूक्ष्म अन्न (सत्त्व)–से मन का निर्माण होता है।''[10] अतः अन्न की शुद्धिता और उसपर किये जानेवाले संस्कार भी शुद्ध होने चाहिए।

भावशुद्धि

यह मानव शरीर परमात्मा का मन्दिर है। अतः आहार सेवन शरीर की पुष्टि के निमित्तमात्र न होकर नैवेद्यरुप में ईश्वर अर्पणभाव से किया जाए। आहार निर्माण भी इसी भाव से किया जाना चाहिए। मनुस्मृति में कहा गया है कि अन्न ब्रह्म है, रस विष्णु है और आहार ग्रहण करनेवाला महेश्वर है–''अन्नं बह्मा रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः।''[11] यह समझकर प्रेम और भक्तिभाव से भोजन निर्मित होने पर इसी भाव से उसे ग्रहण करने से वह शरीर को पुष्टि प्रदान करता है।

आपने स्वयं अनुभव किया होगा कि घर में पत्नी, माँ, बहन आदि द्वारा तैयार किया गया पाक विशिष्ट स्वाद देता है। ऐसा स्वाद पाँच सितारा होटलों के भोज्य पदार्थों में ग्रहण करने पर भी प्राप्त नहीं होता। अन्यथा लोग घर में भोजन करने के स्थान पर भोजनालयों को ही प्राथमिकता देते। इसका मुख्य कारण गृहणी का अपने परिवार के प्रत्येक सदस्य के प्रति प्रेम और ममता का भाव है। दूसरी ओर यदि गृहणी असन्तुष्ट, नाराज या चिन्तित अवस्था में पाक तैयार करती है तो वह भोजन नीरस, रुक्ष और अपच होकर आहारी को अतृप्त और असन्तुष्ट कर देता है।

अतः भोजन तैयार करते समय पाकनिर्माता के मन में परमात्मा के प्रति भावनात्मक प्रेम और भक्ति, परिवारजनों के स्वस्थ जीवन कामना के साथ–साथ शुद्ध, शान्त, प्रेममय वातावरण का होना आवश्यक है।

द्रव्यशुद्धि

द्रव्य भी आहार के गुणों को प्रभावित करता है। अनीति, अनाचार, चोरी, तस्करी, गबन तथा लूट से प्राप्त धन पापभाव से ग्रसित होने के कारण भोजन को उच्छिष्ट बना देता है। ऐसे धन से तैयार किया गया भोजन तामसी गुणों को उत्पन्न कर आहारी के तन और मन को दुष्प्रभावित कर देता है। यह दुष्प्रभाव आहारी के आचार–व्यवहार, चाल–चलन, चिन्तन–मनन और कर्म में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। ''महाभारत में भीष्मपितामह का चरित्र इसका प्रबल प्रमाण है।''[12] अतः मेहनत और ईमानदारी से अर्जित द्रव्य से तैयार भोजन ही सात्त्विक और आरोग्यप्रद है।

कालशुद्धि

कालशुद्धि से तात्पर्य उस समय–काल से है, जिसमें आहार–ग्रहण करना स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद होता है।

स्वस्थ लोगों को प्रातः एवं शाम दो बार पूर्ण आहार ग्रहण करना चाहिए। प्रातःकाल और शाम दोनों भोजनों के बीच कम–से–कम दो याम या प्रहर (एक याम या प्रहर तीन घण्टे का होता है) का अन्तर रहे। इससे अन्नरस का परिपाक भलीभाँति होता है। इससे अधिक विलम्ब करने पर पूर्वसंचित बलका क्षय होता है।

''आचार्य वाग्भट के अनुसार भोजन करने का उचित अवसर वह है, जब व्यक्ति मल–मूत्र त्याग के उपरान्त अपने को हल्का महसूस करे, ठीक से डकार आ जाए, इन्द्रियों के निर्मल होने से मन प्रसन्न हो जाए, भूख लग जाए और भोजन के प्रति रुचि जाग्रत हो जाए।''[13]

यदि आप प्रातः–शाम भोजन के पूर्व कलेवा या जलपान करना चाहते हैं तो कलेवा और भोजन के बीच एक पहर का अन्तर अवश्य रखा जाए अन्यथा अध्यशन की पीड़ा हो सकती है। अस्वस्थ व्यक्ति वैद्य या डॉक्टर के परामर्शानुसार भोजनकाल का निर्णय करें। पूर्व आहार जीर्ण हो (पच) जाने पर ही अपर आहार ग्रहण करना चाहिए।

देश (ऋतुचर्या)

देश के अन्तर्गत स्थान विशेष की ऋतुओं और इस काल में उत्पन्न द्रव्यों के गुणों का अध्ययन कर उनको आहार में सम्मिलित किए जाने संबंधी निर्णय आते हैं। पश्चिमी देशों में जहाँ अधिकांश समय शीत ऋतु रहती है, वहाँ वैसी ही वस्तुओं का बारहों महीना सेवन करते रहने से उनके निवासियों की पौष्टिक आहार की आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है। भारत–जैसे देश में जहाँ छः ऋतुएँ होती हैं और ऋतु के अनुसार भोज्य पदार्थो के गुणों में भी परिवर्तन होता रहता है, वहाँ आहार के लिए उपयुक्त द्रव्यों का चयन, उनके संस्कार और ग्रहणविधि में विविधता रखना आवश्यक हो जाता है। इसे ध्यान में रखकर ही मनीषियों ने ऋतु के अनुसार आहार–विहार का प्रावधान ऋतुचर्या के अन्तर्गत किया है। ''ऋतुभेद से वात, पित्त, और कफ का न्यूनाधिक्य होने के कारण शारीरिक तथा मानसिक अवस्था में परिवर्तन आता है। चरकसंहिता के सूत्रस्थान में ऋतुचर्या–विधान के अन्तर्गत निर्दिष्ट आहार–विहार के नियमों का अनुपालन अवश्य किया जाना चाहिए।''[14]

क्षेत्रशुद्धि

आहार की सात्त्विकता बनाए रखने के लिए चौका और भोजनगृह–क्षेत्र की शुद्धि आवश्यक है क्योंकि प्रत्येक स्थान का वायुमण्डल, वातावरण और पर्यावरण हमारे मन को भी प्रभावित करता है। इन दोनों स्थानों की शुद्धि स्वास्थ्य के लिए वैज्ञानिक लाभदायक है। ''प्राचीन परम्परा के अनुसार चौका व्यवस्था में चार प्रकार की शुद्धियाँ–क्षेत्रशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि का समुच्चय रहा।''[15] यह स्थान प्रकाशयुक्त, शुद्ध हवादार और गोबर से लिपा होता था। आज जूते–चप्पल पहने कोई भी गृहिणी या उसकी सहेली, महरी आदि चौके में आती–जाती है। नाला–जैसी अपवित्र और उपवन–जैसी पवित्र जगह में भोजन करने से पाचन–क्रिया में होनेवाले अन्तर को समझकर शुद्ध स्थान में भोजन पकाने एवं ग्रहण करने की आदत डालनी चाहिए।

मात्रानिर्धारण

आहार की मात्रा का निर्धारण आहारी की शरीर रचना, आयु, स्वास्थ्य और भोज्य–पदार्थों के गुणतत्त्व के आधार पर किया जाना चाहिए। आहार की मात्रा पचाने (जठराग्नि) की क्षमता पर निर्भर करता है। ''जिस व्यक्ति के शरीर में वात, पित्त और कफ त्रिदोष सम हों, जठराग्नि ठीक हो, रसादि धातुओं का ठीक निर्माण हो रहा हो, मल–मूत्र की क्रिया सम हो, आत्मा, इन्द्रियाँ और मन प्रसन्न हो, उस व्यक्ति का आहार हितकर एवं पच्य होता है।''[16]

उपर्युक्त स्थिति तभी सम्भव है, जब मनुष्य स्निग्ध पदार्थ तेल, घी, मलाई आदि जिन्हें आयुर्वेद में गुरुपदार्थ कहा गया है, सीमित मात्रा अर्थात् भूख की तीव्रता से आधा लें तथा सभी समय सुपाच्य भोज्य पदार्थ जैसे अन्न, हरी सब्जियाँ आदि तृप्तिपर्यन्त सेवन करें।

आहार की मात्रा का निर्धारण इस दृष्टि से करें कि आमाशय का आधा भाग ठोस आहार से, एक चौथाई द्रवपदार्थ से पूरित हो तथा शेष भाग खाली रहे, ताकि पाचन में सुविधा हो।

क्रियाशुद्धि

क्रियाशुद्धि से तात्पर्य वे सभी कर्तव्य या क्रियाएँ हैं, जो आहार के लिए द्रव्यों के चयन, पाक संस्कार और ग्रहण करने हेतु व्यक्ति द्वारा सम्पन्न की जाती है।

आहारग्रहणविधि

भारतीय संस्कृति में आहार ग्रहण करने हेतु एकल एवं सहभोज–दोनों परम्पराएँ प्रचलित रही हैं। दोनों ही परम्पराओं में भोजन स्थल के शुद्ध होने पर विशेष बल दिया गया है। आधुनिक परम्परा इससे विपरीत सिद्धान्त का पालन कर जाने–अनजाने में अपने शरीर को रोगी बनाने की दिशा में चल रही है।

''पूर्ण वैज्ञानिक सिद्धान्तों को प्रतिपादित करते हुए स्वच्छ, पवित्र, प्रकाशमय, धुल और कीटाणु मुक्त स्थान पर जूते–चप्पल और शरीर में धारण किए भारी अधोवस्त्रों को उतार कर, हाथ–पैर तथा मुख को जल से साफ कर, लकड़ी के पाटे या आसन पर सुखासन में बैठकर साफ भोजन पात्र में रखे पाक को पहले भगवान को समर्पित कर शान्त और प्रसन्नचित्त दशा में भोजन करने का पूरा विधान शास्त्रों में प्रस्तुत किया गया है।''[17] सहभोज की व्यवस्था हेतु भी नियम निर्देशित किए गए हैं। इन विधानों में प्रमुख विधान इस प्रकार हैं –

A. स्नानादि के बाद ही भोजन करें: पूर्वाचार्यों के अनुसार मल–मूत्र त्यागने के बाद प्रातः शीतल जल में अच्छी तरह से स्नान कर पुजा करने के अनन्तर भोजन करना चाहिए।

भोजन से पूर्व हाथ–पैर मुख धोने से जहाँ बाहरी गन्दगी दूर होती है, वहीं शीतलता आती है, श्वासगति सम होती है और आयु बढ़ती है।

''आर्द्रपादस्तु भुञजानो दीर्घमायुरवाप्नुयात्।''[18]

B. पूर्वाभिमुख होकर भोजन करें: भोजन करते समय पूर्वमुख होने से आयु बढ़ती है।

C. भोजन भगवान् को अर्पित करें: संसार की सभी वस्तुएँ ईश्वर–प्रदत्त हैं, अतः भगवान् को बिना अर्पित किए उन्हें ग्रहण करना पाप होगा।

D. भोजनकाल में ध्यान रखें

i. भोजन को प्रसाद मानकर उसकी प्रशंसा करें। यदि भोजन नमकरहित, चरपरा, खट्टा या आपकी रुचि के अनुकूल न हो तो भी भोजन की आलोचना न करें। क्रोध करने या भोजन त्यागने से मन और शरीर दोनों को क्षति पहुँचती है, जबकि आनन्दभाव से प्राणरुपी स्वादरस का रसास्वादन करते रहने से भोजन बल और पराक्रम में वृद्धि करता है।

ii. आहार को न अधिक जल्दी, न अधिक देर से, न बोलते हुए, न हँसते हुए अपने आहारपात्र में ही मन और दृष्टि लगाकर मौन होकर ग्रहण करें। भोजन के बीच बोलने या हँसने से ग्रास श्वासनलिका में फँस जाने से संकट पैदा कर सकता है। बात करने से मुँह के अन्दर बननेवाली लार जो भोजन पचाने और निगलने में सहायक होती है, लार कम बनने से पाचन में व्यवधान उत्पन्न होता है। साथ ही मुँह सूखने से ग्रास को निगलने के लिए बार–बार पानी के घूँट पीने पड़ते हैं।

iii. प्रत्येक ग्रास को अच्छी तरह चबाकर महीन करने के बाद ही दूसरा ग्रास लें। इससे ग्रास आसानी से आहार नलिका से होकर आमाशय तक पहुँच सकेगा और आँतों को इसे चूर्ण करने में मेहनत नहीं करनी पड़ेगी। ''आयुर्वेद के अनुसार एक ग्रास को बत्तीस बार चबाना चाहिए।''[19] सोलह बार एक दाढ़ से और सोलह बार दूसरी ओर की दाढ़ से चबाना चाहिए, इससे दाँत और मुँह के स्नायु पुष्ट होते हैं।

iv. सात्त्विक, सुपाच्य भोजन ही ग्रहण करें–''ऐसे भोजन से आयु, बल, उत्साह, सुख और प्रीति की वृद्धि होती है। राजसिक और तामसिक आहार से जड़ता, दुःख, शोक, अज्ञान, कुरोग और पशुभाव बढ़ता है।''[20]

इस तरह संक्षेप में आहार से सम्बन्धित सभी शास्त्रीय विधियों, नियमों तथा निर्देशों का संकलन प्रस्तुत कर पाठकों से पुनः निवेदन है कि प्रमाणित परीक्षित विधियों को अपने आचार–व्यवहार में अपनाते हुए शतायु प्राप्त करें।

संदर्भ

1. आयुर्वेद
2. चरकसंहिता
3. सुश्रुत संहिता सुत्र स्थान 15 41
4. आयुर्वेद
5. चरकसंहिता
6. चरकसंहिता
7. चरकसंहिता
8. गीता
9. छान्दोग्य उपनिषद् (7. 26. 2)
10. आयुर्वेद
11. ब्रह्मवैवर्त पुराण ब्रह्मखंड
12. महाभारत
13. अष्टांग हृदय संहिता
14. चरकसंहिता
15. चरकसंहिता
16. आयुर्वेद
17. चरकसंहिता
18. मनुस्मृति 4.76
19. आयुर्वेद
20. गीता

सहायक ग्रंथ सूची

1. शास्त्री पं. काशीनाथ (वि. सं. 2059) चरक संहिता चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी।
2. शास्त्री कविराज डी. अम्बिका दत्त (वि. सं. 2060) सुश्रुत संहिता चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी।
3. शर्मा गिरिधर गोपाल (2014) मनुस्मृति, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली
4. राय डॉ. विजय कुमार (वि. सं. 2067), आयुर्वेद पंचकर्म चिकित्सा विज्ञान, चौखम्बा पब्लिकेशन नई दिल्ली।
5. जैन राजकुमार (2010) योग और आयुर्वेद चौखम्बा पब्लिशर्स वाराणसी, भारत।
6. सरस्वती विज्ञानानंद (2007) योग विज्ञान, योग निकेतन ट्रस्ट ऋषिकेश, टिहरी गढ़वाल, उतराखण्ड।
7. सिंह श्री रामहर्ष (2011) स्वस्थवृत विज्ञान, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली।
8. रामदेव स्वामी, योग साधना एवं योग चिकित्सा रहस्य, सांई प्रिंटर्स प्रा. लिमिटेड, फरीदाबाद (हरियाणा)
9. आचार्य यादवजी वैध त्रिकमजी (2014) चरक संहिता (चक्रपाणि दत्त की आयुर्वेद – दीपिका) चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
10. शर्मा पीवी (2011) चरक संहिता खंड – 1, चौखम्बा ओरियन्टालिया वाराणसी।